RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16, अंक-3, जून जुलाई अगस्त 2023

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम ॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16 अंक - 3 जून-जुलाई-अगस्त-2023

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

भारतीय ज्ञान परम्परा में कृषि विवेचन

सुर्मिला यादव
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय ज्ञान परंपरा में कृषि भूमि का विवेचन अत्यंत व्यापक, भावनात्मक और दार्शनिक रूप में मिलता है। यहाँ भूमि को केवल कृषि उत्पादन का साधन नहीं माना गया, बल्कि उसे जीवन का मूल आधार और माता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। वैदिक काल से ही भूमि और मनुष्य के संबंध को जैविक, नैतिक तथा आध्यात्मिक स्तर पर समझा गया। ऋग्वेद में मनुष्य को 'पृथ्वी-पुत्र' कहा गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि मानव अपनी उत्पत्ति, पोषण और अस्तित्व को भूमि से ही जुड़ा हुआ मानता था। यह भाव भूमि के प्रति अधिकार नहीं, बल्कि उत्तरदायित्व और कृतज्ञता की भावना को प्रकट करता है।

भूमि और मनुष्य :

अथर्ववेद में भूमि की महिमा और भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वहाँ पृथ्वी को माता कहा गया है और पर्जन्य को पिता के रूप में स्वीकार किया गया है। इस दैविक रूपक के माध्यम से कृषि को प्रकृति के संतुलन से जोड़ा गया है। भूमि माता के समान अपने पुत्रों को अन्न, दूध, औषधि और जीवनदायी तत्व प्रदान करती है। 'सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय में पय:' जैसे मंत्रों में भूमि से पोषण और समृद्धि की कामना की गई है। इससे यह संकेत मिलता है कि वैदिक समाज कृषि को केवल श्रम या तकनीक का विषय नहीं मानता था, बल्कि उसे श्रद्धा और विनय से जुड़ा कर्म समझता था।

भूमि के प्रति यह मातृत्व भाव मनुष्य के आचरण को भी नियंत्रित करता था। अथर्ववेद के द्वादश कांड में भूमि को 'मृतिकायाम्' अर्थात् कृषियोग्य भूमि के रूप में संबोधित करते हुए उसकी रक्षा और सम्मान का आग्रह किया गया है। भूमि को हानि पहुँचाने से बचने, उसे दूषित न करने और संतुलित उपयोग करने का भाव इस परंपरा में निहित है। वैदिक जन भूमि के सामने नतमस्तक होकर प्रार्थना करते थे और उसे नमस्कार करते थे, जिससे स्पष्ट होता है कि कृषि भूमि धार्मिक और नैतिक चेतना से जुड़ी हुई थी।

पर्जन्य को भूमि की पत्नी कहकर संबोधित करना भी अत्यंत अर्थपूर्ण है। वर्षा और भूमि के संयोग से ही अन्न की उत्पत्ति होती है, इसलिए कृषि को प्राकृतिक शक्तियों के सहयोग का परिणाम माना गया। इस दृष्टि से भूमि, जल, वायु, अग्नि और आकाश—पाँचों तत्वों का संतुलन कृषि के लिए अनिवार्य समझा गया। भूमि पर उगने वाला अन्न केवल शरीर का पोषण नहीं करता, बल्कि समाज, संस्कृति और धर्म को भी स्थायित्व प्रदान करता है।

भूमि का स्वरूप :

भारतीय ज्ञान परंपरा में भूमि के स्वरूप का विवेचन अत्यंत समृद्ध और अर्थगर्भित है। भूमि को

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

केवल जड़ पदार्थ न मानकर उसे संसार का पोषण करने वाली जीवंत शक्ति के रूप में देखा गया है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में भूमि को 'उर्जस्वती' और 'पयस्वती' कहा गया है, अर्थात् वह ऊर्जा, शक्ति और पोषण से परिपूर्ण है। इन वेदों में पृथ्वी को कल्याणकारिणी, शिवा और स्योना कहा गया है, जो यह दर्शाता है कि भूमि मनुष्य के लिए सुख, शांति और समृद्धि प्रदान करने वाली है। वह निवास के योग्य है, अन्नरस से युक्त है और दूध, घृत जैसे पोषक तत्वों का आधार है। इस प्रकार भूमि को जीवनदायिनी और समस्त प्राणियों की आधारशिला के रूप में स्वीकार किया गया है।

शतपथ ब्राह्मण में भी भूमि के इसी स्वरूप की पुष्टि होती है, जहाँ उसे अन्नदाता और समृद्धि का स्रोत माना गया है। यहाँ भूमि का महत्व केवल कृषि तक सीमित नहीं है, बल्कि वह सामाजिक और धार्मिक जीवन की स्थिरता का भी आधार बनती है। भूमि के बिना यज्ञ, अन्न, पशु और मानव जीवन की कल्पना संभव नहीं है, इसलिए उसे व्यापक अर्थ में 'पोषक' कहा गया है।

ऋग्वेद में उत्कृष्ट भूमि के लिए 'अरण्यानी' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसे माता के रूप में संबोधित किया गया है। अरण्यानी का स्वरूप ऐसी भूमि का है जो किसान को अत्यधिक परिश्रम के बिना भी अन्न प्रदान करने वाली है। यह धारणा भूमि की स्वाभाविक उर्वरता और उसकी दयालु प्रकृति को प्रकट करती है। भूमि स्वयं अपने गर्भ में अन्न, भोग-सामग्री और उपयोगी वस्तुएँ धारण करती है और समय आने पर उन्हें मनुष्य के लिए प्रकट करती है।

अथर्ववेद के सूक्तों में भूमि के गर्भ में निहित संपदा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। भूमि के भीतर छिपी हुई भोग्य सामग्री और पात्र यह संकेत देते हैं कि पृथ्वी केवल वर्तमान का ही नहीं, भविष्य का भी आधार है। वह धैर्यपूर्वक अपने भीतर समृद्धि को संजोए रखती है और उचित समय पर मानव समाज को प्रदान करती है। इस प्रकार भूमि का स्वरूप भारतीय ज्ञान परंपरा में जीवंत, मातृत्व से युक्त, उर्वर, पोषक और कल्याणकारी माना गया है, जो मनुष्य और प्रकृति के गहरे सह-अस्तित्व को अभिव्यक्त करता है।

भूमि और श्रम :

भारतीय ज्ञान परंपरा में भूमि और श्रम का संबंध मंत्रात्मक आधार पर स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। वेदों में भूमि को माता और कृषक को उसके पुत्र के रूप में देखा गया है, जहाँ श्रम के द्वारा भूमि की सुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं। जिस भूमि पर कृषक परिश्रम करता है, वही भूमि श्रेष्ठ बनकर अन्न, सुख और आनंद प्रदान करती है। बिना भूमि के कृषि संभव नहीं है और बिना श्रम के भूमि की उर्वरता निष्फल रह जाती है। इसी समन्वय को वाजप्रसवीय सूक्त के मंत्र में अभिव्यक्त किया गया है–

वाजस्व नु प्रसवे मातरं महीमदिति नाम वचसा कराम हे।
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवो विविधं धत्तु अन्नम्॥

इस मंत्र में पृथ्वी को 'मही' अर्थात् महान माता कहा गया है, जिसमें समस्त जगत और प्राणी समाहित हैं। ऋषि यह प्रार्थना करता है कि हम उस माता पृथ्वी को वाणी और संकल्प के द्वारा जाग्रत करें, जिससे वह विविध प्रकार का अन्न उत्पन्न करे। यहाँ 'वाणी' ज्ञान, योजना और श्रम का प्रतीक है, जिससे कृषि कर्म को गति मिलती है।

भूमि को अपने अधिकार क्षेत्र में लेकर, उसे योग्य रूप से विभाजित कर, उसकी क्षमता को पहचानते

हुए पुरुषार्थपूर्वक कृषि करने का संकेत भी इसी मंत्र में निहित है। इसका अभिप्राय यह है कि भूमि केवल प्राकृतिक दान नहीं है, बल्कि वह तब फलवती होती है जब मनुष्य अपने श्रम, उद्यम और धर्मबुद्धि को उसमें नियोजित करता है। इस प्रकार मंत्रात्मक परंपरा में भूमि और श्रम का संबंध पवित्र, सहयोगात्मक और सृजनशील माना गया है, जो कृषि को केवल आजीविका नहीं बल्कि धर्मरूप कर्म के रूप में स्थापित करता है।

भूमि-गुण :

भारतीय ज्ञान परंपरा में भूमि-गुण का विवेचन अत्यंत सूक्ष्म और अनुभवसिद्ध रूप में किया गया है। ऋग्वेद में भूमि को केवल निवास या उत्पादन का आधार नहीं, बल्कि जल, अन्न, प्राण और गति से युक्त जीवंत सत्ता माना गया है। इस भाव को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

'यस्या समुद्र उत् सिन्धुरापो, यस्याम् अन्नं कृष्टयः संवभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्, नो भूमिः पूर्वं पेये दधातु॥'

अर्थात् जिस भूमि पर समुद्र, नदियाँ और जल स्थित हैं, जिस भूमि पर अन्न और कृषि उत्पन्न होती है तथा जिसमें समस्त प्राणियों की गति और जीवन निहित है, वह भूमि हमें श्रेष्ठ मार्ग प्रदान करे और हमारी रक्षा करे। इस मंत्र से स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक समाज भूमि के प्राकृतिक गुणों–जलसंपन्नता, उर्वरता और प्राणधारक शक्ति–से पूर्णतः परिचित था।

भूमि के गुणों को जानकर उसका विवेकपूर्ण उपयोग करने वाले लोग समस्त पृथ्वी पर प्रभुत्व स्थापित करते थे। ऋग्वेद में कहा गया है–

'येनामि कृष्टीनां विश्वतः पन्नाय मोजो अस्मै समिन्वतम्।
ये नो मृणाने महिनी महिनी महिश्रवः क्षत्रं धावा पृथिवी॥'

इससे संकेत मिलता है कि जो व्यक्ति भूमि की शक्ति और सामर्थ्य को समझकर कृषि करता है, वह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से भी समर्थ बनता है।

ऋग्वैदिक परंपरा में कृषि योग्य भूमि के तीन प्रमुख प्रकार माने जा सकते हैं–अप्नस्वती, उर्वरा और आर्तना। इनका वर्गीकरण भूमि की प्राकृतिक क्षमता और उसमें अपेक्षित श्रम के आधार पर किया गया है। अप्नस्वती वह भूमि है जो अत्यंत उपजाऊ होती है और अल्प परिश्रम में ही प्रचुर अन्न प्रदान करती है। इसे सिद्ध भूमि के रूप में समझा जा सकता है। उर्वरा भूमि वह है जिसे साध्य कहा गया है, अर्थात् जिसे हल चलाकर, सिंचाई और श्रम द्वारा उपजाऊ बनाया जा सकता है। आर्तना भूमि फल्गु कही गई है, जो पथरीली, जलहीन और कृषि के लिए कठिन मानी गई है, जहाँ कृषक को अत्यधिक कष्ट सहना पड़ता है।

पाणिनि कालीन भारतवर्ष के संदर्भ में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने उल्लेख किया है कि किसान सुरक्षा और सुविधा की दृष्टि से अपने खेत पास-पास चुनते थे। ऐसे खेतों और खलिहानों के समूह को 'खल्या' या 'खलिनी' कहा जाता था। महाभाष्य (5/1/7) में 'खल्य' शब्द का प्रयोग ऐसे विशेष खेत के लिए मिलता है जिसमें छायादार वृक्ष हों। यह प्रायः पड़ती भूमि होती थी, जबकि अनेक खेतों के समूह को खल्या या खलिनी कहा जाता था। अर्थशास्त्र में भी इसका उल्लेख मिलता है–

'खलस्य प्रकारान् कुर्यान् मण्डलान्ते समाश्रितान्।'

अथर्ववेद और ऋग्वेद के संकेतों से यह भी स्पष्ट होता है कि अप्नस्वती भूमि को खनन, प्रेक्षण और अन्य कृषि-कर्मों द्वारा उपजाऊ बनाया जाता था। उर्वरा भूमि के लिए 'खिल्या' शब्द का प्रयोग मिलता है, जो स्वाभाविक रूप से उपजाऊ मानी जाती थी—

'उत खिल्या उर्वराणां भवन्ति मातः, हेति तविषा चक्रुधाम।'

उर्वरा भूमि के भी दो रूप बताए गए हैं—कृष्ट और अकृष्ट। कृष्ट भूमि वह है जिसमें सप्तधान्य या सप्त ग्राम्य धान्यों की उपज होती है, जबकि अकृष्ट भूमि में सप्त आरण्य धान्यों का वर्णन मिलता है। ऋक्संहिता में इस अकृष्ट भूमि को 'अरण्यानी' कहा गया है—

'प्राह मृगाणां मातरम् अरण्यानि कृषीवलाम्।'

यजुर्वेद (18/14, 18/7) में भी उर्वरा और अरण्यानी भूमि का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त चौथे प्रकार की भूमि के रूप में गोचर भूमि को स्वीकार किया गया है, जिसके लिए 'गव्यूति' शब्द प्रयुक्त हुआ है—

'परा मे यान्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु।'

पाणिनि और पतंजलि के महाभाष्य में भी भूमि के चार प्रकारों का संकेत मिलता है—हल्य या सीत्य (हल से जोती जाने वाली भूमि), उषर (नमकीन या रेहड़ भूमि), गोचर (चारागाह) तथा व्रज-गोष्ठ (पशुपालन से संबंधित भूमि)। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में भूमि का वर्गीकरण अत्यंत व्यावहारिक और वैज्ञानिक था।

कर्षण अर्थात् भूमि जोतने और बीज वपन की प्रक्रिया को भी वैदिक मंत्रों में पवित्र कर्म माना गया है। यजुर्वेद में कहा गया है—

'यवं वृकेणाश्विना वपन्ते, दुहन्ता मनुष्याय दासा।'

तथा—

'अभ्यावर्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह।

वपन्ते अङ्गिरस इषितो अरोहत्॥'

इन मंत्रों में पृथ्वी से प्रार्थना की गई है कि वह यज्ञ, श्रम और अन्न के साथ फलवती बने, जिससे बीज वपन करने वाला कृषक अन्न प्राप्त कर सके। इस प्रकार भूमि-गुण, श्रम और कृषि को भारतीय ज्ञान परंपरा में धर्म, यज्ञ और जीवन के साथ एकीकृत रूप में देखा गया है।

वेदोत्तरकाल में समानता :

वेदोत्तरकाल में कृषि-विद्या के स्वरूप में मूलतः वही दृष्टि बनी रही जो वैदिक काल में विकसित हुई थी। सूत्र ग्रंथों, रामायण, महाभारत तथा स्मृति साहित्य में कृषि भूमि, उपकरण और कृषि-कर्म के जो संकेत मिलते हैं, वे वैदिक परंपरा की निरंतरता को ही प्रकट करते हैं। आज भी जिस प्रकार भूमि, श्रम और साधनों का उपयोग कृषि में किया जाता है, उसका आधार इन्हीं वेदोत्तरकालीन अवधारणाओं में निहित

दिखाई देता है।

रामायण और महाभारत में भूमि के प्रकारों का विस्तार से वर्णन कम है, किंतु भूमि को मुख्यत: उर्वर, अनुर्वर और गोचर—इन रूपों में पहचाना गया है। उर्वर भूमि को कृषि योग्य माना गया है, जबकि अनुर्वर भूमि को 'इरिण' या 'उषर' कहा गया है। गोचर भूमि पशुपालन के लिए उपयोग में लाई जाती थी। वत्स देश के वर्णन में जनपदों को 'प्राज्य कामा:' और 'सम्पन्न गोरस:' कहा गया है, जिससे कृषि और पशुपालन की समृद्धि का संकेत मिलता है—

'प्राज्य कामाः जनपदाः सम्पन्नगोरसः।'

महाभारत के शान्तिपर्व में कृषि के महत्व पर विशेष बल दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि कृषक के घर में अन्न और बीज का अभाव नहीं होता—

'कच्चिन्न भक्तबीजं च कर्षकस्यावसीदति।'

इससे स्पष्ट होता है कि कृषि को जीवन की स्थिरता और समृद्धि का आधार माना गया था। महाभारत में उर्वर, अनुर्वर और उषर भूमि के दान का भी उल्लेख मिलता है, जिससे भूमि-वर्गीकरण की स्पष्ट परंपरा का बोध होता है।

स्मृति ग्रंथों में भी भूमि को उर्वर, उषर और अनुप—इन तीन रूपों में स्वीकार किया गया है। चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' में सीताध्यक्ष प्रकरण के अंतर्गत कृषि भूमि के प्रकारों का विस्तृत विवेचन मिलता है। वहाँ भूमि के पर्याय और स्वरूप के रूप में विसर्पण, प्रहत, आलबाल, उपल, उषर और कठिन भूमि जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। चाणक्य अकृष्य या बिना जोती गई भूमि को पशुओं के लिए छोड़ने की व्यवस्था बताते हैं और ऐसी भूमि को उपयोग में लाने की विधि को 'भूमिच्छिद्र विधान' कहते हैं।

कृष्य भूमि :

वेदोत्तरकालीन साहित्य में भूमि का विवेचन अत्यंत विस्तृत और व्यवस्थित रूप में मिलता है। आचार्य चाणक्य ने कृष्य भूमि को स्थावर-जंगम ब्राह्मणों को तथा अरण्य भूमि को तपस्वियों के लिए उपयुक्त माना। 'अर्थशास्त्र' में उन्होंने नदियों के तट, बाढ़-प्रभावित क्षेत्र, कुएँ के आसपास की भूमि, उपवन, उषर और उर्वरा आदि अनेक भूमि-प्रकारों का उल्लेख किया है तथा जांगल, अनूप, वाप, अश्मक, हिमालय आदि देशीय भेद भी बताए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भूमि का वर्गीकरण प्राकृतिक स्थिति और उपयोगिता के आधार पर किया जाता था।

वृहदोपाराशर स्मृति में जल-धारण क्षमता के अनुसार भूमि को निम्न और उच्च दो वर्गों में बाँटा गया है। मनुस्मृति और अग्नि पुराण में भी भूमि के गुण-दोष देखकर बीज-वपन का निर्देश मिलता है। भोजकृत समरांगण सूत्रधार में भूमि को देश के अनुसार जांगल, अनूप और साधारण—तीन भेदों में विभाजित किया गया है। जांगल प्रदेश शुष्क, रेतीला और जलहीन माना गया है, अनूप प्रदेश जलसंपन्न, स्निग्ध और उपजाऊ है, जबकि साधारण देश न अधिक शीत न अधिक उष्ण होता है।

इसी ग्रंथ में भूमि के लक्षणों के आधार पर सोलह प्रकार की भूमियों का उल्लेख मिलता है, जिनमें बालिश-स्वामिनी, भोग्या, सीता-गोचर-रक्षिणी, कान्ता, खनिमती, देवमातृका, धान्यशालिनी, सुरक्षा आदि

प्रमुख हैं। इनमें से कुछ विशेष रूप से कृषि भूमि मानी गई हैं। भोज के अनुसार जो भूमि अधिक अन्न उत्पन्न कर समाज को समृद्ध करती है, वही 'भोग्या' या कृष्य भूमि कहलाती है। इस प्रकार वेदोत्तरकालीन ग्रंथों में भूमि का अध्ययन केवल कृषि तक सीमित न रहकर प्रशासन, समाज, सुरक्षा और आर्थिक समृद्धि से भी गहराई से जुड़ा हुआ दिखाई देता है।

प्रशस्त भूमि :

प्रशस्त भूमि का स्वरूप वेदोत्तरकालीन ग्रंथों में अत्यंत सजीव और आदर्श रूप में वर्णित किया गया है। ऐसी भूमि को प्राकृतिक सौंदर्य, उर्वरता और मानव-निवास की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ग्रंथों के अनुसार प्रशस्त भूमि वह है जो धातुओं की शोभा से युक्त पर्वतीय कुंजों, गुल्मों, वृक्षों और लताओं से आच्छादित हो तथा चारों ओर सुदृढ़ शिलाओं से सुरक्षित हो। वहाँ मीठे और शीतल जल से युक्त नदियाँ बहती हों, जिनके तट रंग-बिरंगे पुष्पों और फलों से सुशोभित हों। जल की प्रचुरता के कारण सरोवर, तालाब, देवखात और अन्य जलागार भरे हुए हों, जहाँ कमलों पर भौरों की गुंजार वातावरण को रमणीय बनाती हो।

ऐसी भूमि समतल, सुगन्धित, शीतल और अक्षत सीमा वाली होती है, जहाँ उत्तम धान्य की फसलें उत्पन्न होती हैं। चारागाहों से युक्त, घास से भरपूर तथा बिना काँटे वाले वृक्षों से सुशोभित यह वसुंधरा न भय उत्पन्न करती है और न ही दुष्टों द्वारा सताई जा सकती है। वहाँ मनुष्य का मन सहज ही रम जाता है और निर्भय वातावरण में जनपद, खेतक, ग्राम और नगर बसाने योग्य मानी जाती है।

इसी कारण इस प्रकार की भूमि को ब्राह्मणादि सभी वर्णों के लिए प्रशस्त और विशेष रूप से उत्तम कृषि योग्य कहा गया है। ऐसी भूमि से धान्य, विशेषकर शालि आदि अन्न की सुगन्ध फैलती है, जो उसकी उर्वरता और समृद्धि का सूचक है। इसी भाव को सूत्रधार ग्रंथ में इस प्रकार व्यक्त किया गया है–

'शालि पिष्टकगन्धैश्च धान्यगन्धैश्च या तथा।

प्रशस्ताखिलवर्णानाम् इद्दगन्धा वसुन्धरा॥'

अर्थात् जिस भूमि से धान्य और उसके पिसे हुए अन्न की सुगन्ध आती हो, वह वसुंधरा सभी वर्णों के लिए प्रशस्त मानी जाती है। इस प्रकार प्रशस्त भूमि का स्वरूप भारतीय ज्ञान परंपरा में आदर्श कृषि, समृद्ध जीवन और सुरक्षित सामाजिक व्यवस्था का प्रतीक है।

अप्रशस्त भूमि :

अप्रशस्त भूमि को वेदोत्तरकालीन ग्रंथों में 'अधम भूमि' कहा गया है, जिसे जनपद, ग्राम या नगर के सन्निवेश के लिए सर्वथा त्याज्य माना गया है। ग्रंथों में कहा गया है–

'इदानीं प्रशस्तानां भुवां लक्ष्मामिदधमहे।

पुरादि सन्निवेशार्थ परित्याज्या भवन्ति याः॥'

अर्थात् जिन भूमियों में प्रशस्त भूमि के लक्षण नहीं पाए जाते, वे नगर, ग्राम अथवा पुर बसाने योग्य नहीं होतीं।

ऐसी भूमि का स्वरूप अत्यंत अशुभ और अनुपयोगी बताया गया है। वह भस्म, अंगार, कपाल, अस्थि, तुष, केश और पत्थरों से भरी होती है। वहाँ चूहों के बिल, वल्मीक और कंकड़ प्रचुर मात्रा में पाए

जाते हैं। भूमि रूखी, असमतल, फटी हुई, ऊँची-नीची और जल के विपरीत प्रवाह वाली होती है। वर्षा अल्प होती है, जल धारण शक्ति नहीं होती और मिट्टी सारहीन होती है। काँटेदार, शुष्क और निष्फल वृक्ष उगते हैं तथा हिंसक पक्षी, कृमि और कीटों का प्रकोप रहता है।

ग्रंथों के अनुसार ऐसी भूमि में शुभ कर्मों से प्राप्त अन्न, भोजन और पेय भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं—

'सुकृतान्यपि भोज्यान्न भक्ष्य पापानि तत्क्षणात्।'

इस प्रकार जिस भूमि में जीवन, कृषि और निवास के लिए आवश्यक प्राकृतिक एवं नैतिक अनुकूलता न हो, उसे अप्रशस्त या अधम भूमि कहा गया है। ऐसी भूमि से न तो कृषि की उन्नति संभव है और न ही सुरक्षित एवं सुखद मानव-निवास।

भूमि परीक्षा :

भूमि परीक्षा का विवेचन वेदोत्तरकालीन ग्रंथों, विशेषतः भोजकृत 'समरांगण सूत्रधार', में अत्यंत व्यावहारिक रूप में किया गया है। गन्ध, रंग, स्पर्श तथा कर्षण के समय प्राप्त संकेतों के आधार पर भूमि को शुभ या अशुभ माना गया है। ग्रंथ में कहा गया है—

'इति गन्धादिभिर्भूमिः कथितेयं शुभाशुभा।'

अर्थात् गन्ध आदि लक्षणों से भूमि के शुभ-अशुभ स्वरूप की पहचान की जाती है। हल से जोतते समय भूमि से जो वस्तुएँ निकलें, उनसे भी भूमि की परीक्षा करनी चाहिए। यदि काष्ठ निकले तो अग्निभय का संकेत माना गया है, ईंट या पकी हुई मिट्टी निकले तो धनागम का, कंकड़ निकले तो कल्याण का, हड्डियाँ निकलें तो कुलनाश का और सर्प अथवा सरीसृप निकलें तो चोर-भय का संकेत समझा गया है।

ग्रंथों के अनुसार जो भूमि अनुषर अर्थात् उर्वर हो, जिसमें घास अधिक उगती हो, जो स्निग्ध हो तथा जिसका ढलान उत्तर, ईशान या सर्वत्र समान हो, और जिसका गर्भ दर्पण के समान चिकना हो, वह भूमि प्रशस्त मानी जाती है। इसके विपरीत लक्षणों वाली भूमि अशुभ कही गई है। मृत्तिका-परीक्षा के आधार पर भूमि को उत्तम, मध्यम और अधम—इन तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। इस प्रकार भूमि परीक्षा की यह पद्धति प्राचीन भारतीय कृषि और निवास-योजना की वैज्ञानिक दृष्टि को दर्शाती है।

मिट्टी के प्रकार :- मिट्टी के प्रकार अर्थात् मृत्तिका का विवेचन 'समरांगण सूत्रधार' में संक्षेप और स्पष्ट रूप में किया गया है। इसमें मृत्तिका को उसके वर्ण और स्वाद—दोनों आधारों पर वर्गीकृत किया गया है। ग्रंथ के अनुसार मृत्तिका के चार प्रमुख वर्ण बताए गए हैं—

'सिता रिक्ता च पीता च कृष्णा चैव क्रमान्यही।

विप्रादीनां हि वर्णानां सर्वेभामथवा हिता॥'

अर्थात् श्वेत, रिक्ता (लाल), पीत और कृष्ण—ये चार प्रकार की मिट्टियाँ मानी गई हैं, जो सामान्यतः सभी वर्णों के लिए हितकारी कही गई हैं। इसके विपरीत जो भूमि सदैव धूम्रवर्ण, मिश्रवर्ण, विवर्ण अथवा अत्यधिक रूक्ष होती है, वह कल्याणकारक नहीं मानी गई है—

'सदैव धूम्रवर्णा या मिश्रवर्णाथवा मही।

विवर्णा रूक्षवर्णा वा सा न स्यादिष्टदायिनी॥'

स्वाद के आधार पर भी मृत्तिका का वर्गीकरण किया गया है। इसके अनुसार भूमि कषाय, तिक्त, कटु, अम्ल और लवण—इन पाँच स्वादों वाली होती है—

'स्वादुः कषाय तिक्ता च कटुकाचेत्यनुक्रमात्।'

ग्रंथों में कहा गया है कि जो भूमि तिक्त, अम्ल अथवा अत्यधिक तीक्ष्ण स्वाद वाली हो, वह लोक-निवास के लिए उपयुक्त नहीं मानी जाती—

'तिक्ताम्लवर्णा चापि भूमिर्या स्वादिता भवेत्।

तां लोकविद्वेषकरी त्यजेत् पुरनिवेशने॥'

मृत्तिका परीक्षा :

मृत्तिका परीक्षा का विवेचन समरांगण सूत्रधार में जनपद-निवेश के प्रसंग में प्राप्त होता है। यद्यपि कृषि के लिए पृथक् रूप से मिट्टी का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता, फिर भी भूमि की उपयुक्तता जाँचने हेतु मृत्तिका परीक्षा की पाँच प्रक्रियाएँ बताई गई हैं। शुभ दिन में उपवास, स्नान एवं शुद्ध वस्त्र धारण कर ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराकर वास्तुदेवों की पूजा के पश्चात भूमि के मध्य एक हाथ प्रमाण का गड्ढा खोदा जाता है। निकाली गई मिट्टी को पुनः उसी गड्ढे में भरने पर यदि मिट्टी अधिक बचे तो भूमि उत्तम, बराबर हो तो मध्यम और कम पड़े तो अधम मानी जाती है—

'खाताधिकमृदुक्ता भूः श्रेष्ठा, मध्याच तत्समा।

प्रहीणखातमृत् हीना शस्ता न सानृणाम्॥'

दूसरी प्रक्रिया में कहा गया है कि खुदाई में यदि मणि, शंख, प्रवाल आदि प्राप्त हों अथवा मिट्टी भूसी, बाल, कंकड़, भस्म व अस्थि से रहित हो तो भूमि अत्यन्त प्रशस्त होती है। तीसरी परीक्षा जल से की जाती है—गड्ढे को जल से भरकर सौ पग चलने के बाद लौटने पर यदि जल यथावत् रहे तो वह भूमि *सार्वकामिकी* मानी जाती है; जल घटने पर मध्यम और अधिक घटने पर अधम—

'तावच्चेदागमेऽम्भः स्यात् तदा भूः सार्वकामिकी।

मध्यमात्रप्रहीणे स्यात् तदन्तरेऽधमा॥'

चौथी प्रक्रिया में गड्ढे में श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण वर्ण की मालाएँ रखी जाती हैं; जिस वर्ण की माला न मुरझाए, उस वर्ण के लिए भूमि प्रशस्त मानी जाती है—

'खाते सितादि माल्यानि यस्यां न शुष्यन्ति वै।

सा तद्वर्णेष्टदा मही॥'

पाँचवीं परीक्षा में गड्ढे की दिशाओं में दीप जलाए जाते हैं; जिस दिशा का दीप अधिक समय तक प्रज्वलित रहे, वह दिशा और उससे संबद्ध वर्ण के लिए भूमि सुखप्रद मानी जाती है—

'दीपान् यस्यां चिरं तिष्ठेत् तद्वर्णेष्टिदा मही॥'

इस प्रकार इन लक्षणों के आधार पर पुर, ग्राम, खेट एवं कृषियोग्य भूमि की परीक्षा कर उसे उपयुक्त

या अनुपयुक्त माना जाता है–

'इत्येवं कीर्तिताः कात्स्न्याल्लक्षणैः पुरभूमयः।
खर्वट ग्राम खेतानामेता एव स्मृता हिता॥'

भूमि कर्षण :

वैदिक साहित्य में कृषि का आरम्भ भूमि कर्षण से माना गया है। भूमि को सर्वत्र लांगल अथवा सीर से जोतने का उल्लेख मिलता है, जिसका कृषि से सीधा संबंध है। कर्षण के पश्चात् ही बीज-वपन का कार्य सम्पन्न होता है–

'शूनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिम्।'

ऋग्वेद में भूमि कर्षण एवं वपन का आद्य संकेत प्राप्त होता है, जहाँ अश्विनीकुमारों द्वारा यह कार्य किए जाने का उल्लेख है–

'तां पृथिवीं वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्।'

अथर्ववेद में भी कृषि-कार्य का प्रारम्भ भूमि कर्षण से करने का श्रेय पृथ्वी वैन्य को दिया गया है, जिससे कृषि में भूमि के महत्त्व का बोध होता है–

'दशयन्ता मनवे पूर्वं दिव्यं वृषेण कर्षकः।'

जिस भूमि का कर्षण कर उसमें बीज बोया जाता है, उसे 'क्षेत्र' कहा गया है। क्षेत्र के स्वामी को 'क्षेत्रपति' माना गया है और उनसे समृद्धि की कामना की गई है–

'क्षेत्रस्य पतिना वयं हितनेव जयामसि।'

ऋग्वैदिक मंत्रों से स्पष्ट होता है कि कृषि को 'क्षेत्र' के रूप में पहचाना जाता था तथा क्षेत्रपति को पशु, अश्व और अन्न प्रदान करने वाला माना गया है–

'क्षेत्रस्य वर्तिर्मधुमान्नो अस्तु।'

इस प्रकार भूमि कर्षण वैदिक कृषि व्यवस्था का मूल आधार था।

क्षेत्रपति :

वैदिक साहित्य में 'क्षेत्रपति' उस कृषक को कहा गया है जो खेत का स्वामी तथा संरक्षक होता है। कृषि को जीवन का आधार मानते हुए वेदों में क्षेत्रपति के प्रति आदर और प्रार्थना व्यक्त की गई है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक मानव कृषि कार्य को कितनी समग्रता और महत्त्व के साथ देखता था।

ऋग्वेद में क्षेत्रपति से यह कामना की गई है–

'क्षेत्रस्य पतेर्मधुमन्तं भूमिं, धेनुरिव पयो अस्मासु।'

इस मंत्र का भाव यह है कि जैसे गाय अपने दूध से सबको तृप्त करती है, वैसे ही क्षेत्रपति द्वारा संरक्षित भूमि मधुर, शुद्ध और समृद्ध अन्न प्रदान करे। क्षेत्रपति की रक्षा और उत्साह से ही कृषि फलती-फूलती है तथा समाज का पालन-पोषण संभव होता है।

क्षेत्रमात्र :

कृषि में 'क्षेत्र' का तात्पर्य उस भूमि से है जहाँ धान्य या अन्य फसल उत्पन्न होती है। पाणिनी ने 'धान्यानां भवते क्षेत्रे' (5/2/1) में स्पष्ट किया है कि भूमि तभी क्षेत्र कहलाती है जब उसमें कृषि योग्य फसल उगाई जा सके।

क्षेत्र दो प्रकार के होते थे–

1. बोये जाने वाले फसलों या धान्यों के आधार पर।

2. खेत में पड़ने वाले बीज के आधार पर।

जिस खेत में किसी विशेष धान्य का बीज बोया जाता था, उसे 'पात्रिक' कहा गया। इसी प्रकार द्रौणिक, खारिक, काशिमा आदि नाम भी खेत के बीज-प्रकार के अनुसार रखे गए। पाणिनी ने इसे विशेष रूप से उल्लेख किया–

'पात्रिक क्षेत्रं पात्रिकी क्षेत्र भक्तिः।'

इस आधार पर स्पष्ट होता है कि कृषि कार्य के पूर्व भूमि की 'पात्रता' जाँची जाती थी। भूमि की सहजा (प्राकृतिक उर्वरता), आहार्य (उपजाऊ) और पात्रता के अनुसार ही उसे 'क्षेत्र' कहा जाता था। इस प्रकार कृषि योग्य भूमि ही वास्तविक क्षेत्र कहलाती थी–

'चीयते वालि शस्यापि सत्क्षेत्र पतिता।'

क्षेत्र :

वैदिक एवं पाणिनीकालीन ग्रंथों में जिस भूमि पर कृषि कार्य किया जाता है, उसे 'क्षेत्र' कहा गया है। कृषि योग्य भूमि की तीन प्रमुख विशेषताएँ मानी जाती थीं– सहजा (प्राकृतिक उर्वरता), आहार्या (उपजाऊ), और पात्रता (बीज वपन के लिए उपयुक्त)। इसी कारण यह भूमि 'सत्क्षेत्र' के रूप में प्रतिष्ठित मानी जाती थी।

'चीयते बालिश स्यापि सत्क्षेत्र पृतिताः।'

क्षेत्र का नामकरण फसलों के आधार पर किया जाता था। उदाहरणतः– गोधूम क्षेत्र, शालि क्षेत्र, राव क्षेत्र, तिल्य/तैलोन क्षेत्र, ब्रीहि क्षेत्र।

पाणिनी के अनुसार कृषि क्षेत्र को 'शालेयं' या 'ब्रीहि शाल्योक' कहा गया।

अथर्ववेद में मिट्टी के प्रकार का उल्लेख भी मिलता है– काली मिट्टी (गोधूम हेतु उपजाऊ), रोहिणी/लाल मिट्टी (किसी प्रकार उपजाऊ नहीं), अन्य मिश्र मिट्टियाँ।

क्षेत्र मापने के लिए बास की लकड़ी (तेजन) का प्रयोग होता था–

'क्षेत्रमिव वि मुमस्तेजने नं एक पात्र मृम वो जेहमानन्।'

भूमि की रक्षा के लिए ऋग्वेद में 'इरा' शब्द का प्रयोग हुआ है। पर्जन्य जल द्वारा भूमि संरक्षण और उर्वरता के संकेत दिए गए हैं–

'प्रवाता वान्ति पतयन्ति विद्युत मुदोषर्धार्जिहते पिन्वते स्व। इरा विश्वस्मै भवनाय जायते यत पर्जन्यः पृथिवी रेत सावति।'

इस प्रकार, क्षेत्र का वैदिक और पाणिनीकालीन महत्व कृषि के आधार और भूमि सुरक्षा से जुड़ा हुआ था।

भूमि संस्कार :

वैदिक ग्रंथों में भूमि का संबंध हमेशा कृषि से जुड़ा रहा है। अथर्ववेद के मन्त्रों में बीज और भूमि को संस्कारित करने का उल्लेख मिलता है। बीज और धरती को घी, मधु, और पय आदि से पूजित और अभिषिक्त कर उनका संस्कार किया जाता था।

मंत्र उदाहरण:

'सा नः सीते पयसाभयः घृतः।'

इसका अर्थ है—बीज और भूमि को घी, मधु आदि से अभिषिक्त कर उनके विकास और उपज की शुभकामना की जाती है। यह पारंपरिक विधि आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों से भी प्रभावशाली मानी जाती है।

यजुर्वेद में 'मातरिश्वा वायु' का वर्णन मिलता है—

सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातु उत्तनाया हृदयं यद विकस्तम्।

अर्थात् यदि भूमि का हृदय (मध्य भाग) क्षतिग्रस्त हो या उसकी उपजाऊ शक्ति घट गई हो, तो मातरिश्वा वायु (अंतरिक्षीय या मानसून वायु) उसे पुनः उर्वर बनाने का कार्य करे।

गुणाधान :

गुणाधान एवं भूस्वामित्व का वैदिक दृष्टिकोण इस प्रकार था कि भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए चार प्रकार के गुणाधान किए जाते थे: अतिक्रमण, उत्खन्न, दहन और अनिवर्षण। वेदों में ऋभु अर्थात् बुद्धिमान और कुशल लोग भूमि के कठोर भागों को नरम कर अनाज उत्पन्न करने योग्य बनाते थे। इस कार्य को 'सुक्षेत्रा कृण्वन्' के रूप में वर्णित किया गया है। वेदों के अनुसार अनाज को चार गुणा करना, भूमि के ठोस भागों को निकालना और कर्म द्वारा देवत्व प्राप्त करना भूमि संस्कार का हिस्सा था।

वैदिक काल में कृषि भूमि का स्वामित्व व्यक्तिगत था। कृषक या क्षेत्रपति अपने खेतों का पालन-पोषण करते थे। श्रमिक अपने परिश्रम के बदले भूस्वामित्व या अन्य लाभ प्राप्त करते थे। ऋग्वेद के मंत्र 'क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनैव जयामसि' में क्षेत्रपति की रक्षा और सहयोग से भूमि की उपज और लाभ सुनिश्चित होने का उल्लेख है।

कृषि के लिए भूमि को क्षेत्र कहा जाता था, जो पात्र भूमि होनी चाहिए। क्षेत्र की पात्रता में सहजा, आहार्या और पात्रता के गुण विद्यमान होते थे। खेतों में उपयोग होने वाला खाद अथवा गोबर खाद, जिसे वेदों में कई नामों से उल्लेखित किया गया है—जैसे करीष, शक्, शकन्, शारिशाक—भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने के लिए प्रयोग होता था। अथर्ववेद में गोबर खाद द्वारा भूमि को अधिक उपजाऊ बनाने का विवरण

मिलता है।

खात् :- कौटिल्य अर्थशास्त्र में खात् का प्रयोग तीन प्रकार का बताया गया है। गोस्थि में पशुओं की हड्डियों का खाद प्रयोग होता था, गो शकृद में गोबर और अन्य पशुओं की विष्टा उपयोग की जाती थी, और कटुमत्स्य में छोटी मछली को खाद के रूप में डाला जाता था। भूमि के पूर्ण उपयोग और कृषि कार्य का महत्व कौटिल्य ने स्पष्ट किया है, और कृषि न करने वाले भूमि स्वामी को दण्डनीय माना गया।

भूमि-मृत्तिका :- भूमि-मृत्तिका यानी मिट्टी के प्रकार और उसकी उपजाऊ शक्ति का वर्णन समरांगण सूत्रधार में मिलता है। मृत्तिका की परीक्षा के पाँच प्रकार बताए गए हैं। मिट्टी की सुगन्ध और गुण के आधार पर उसे प्रशस्त माना जाता था। गृहसूत्र में मृत्तिका को गौर (सफेद या उत्तम), लोहित (लाल) और कृष्ण (काली) के रूप में वर्गीकृत किया गया है। इसके अतिरिक्त मृत्तिका के अन्य प्रकार जैसे कठिन और कपिश भी उल्लेखित हैं।

कालिदास के ग्रंथों में भी खात् और मिट्टी के प्रकारों का उल्लेख मिलता है, जिसमें काली और पीली मिट्टी के मिश्रण का उपयोग बताया गया है। इस प्रकार वैदिक एवं स्मृति साहित्य में कृषि योग्य भूमि, मिट्टी और खाद के प्रयोग की विस्तृत व्यवस्था मिलती है।

भूमि का माप :

भूमि के परिमाण के लिए प्राचीन काल में कई शब्द और मापदंड प्रचलित थे। सबसे प्राचीन शब्द 'निवर्तन' था। महाभारत में 'गोचर्म भूमि' का उल्लेख मिलता है, जिसे या तो गाय के चर्म से नापी गई भूमि माना गया, या फिर वह भूमि जिसे एक हजार गाय-बैल चर सकते थे। इसके अतिरिक्त भूमि मापन के लिए रज्जु, नल, दण्ड, हस्त और पाद का उपयोग होता था। रज्जु, नल और दण्ड की लंबाई 'हस्त' से मापी जाती थी।

गोचर्म भूमि का परिमाण भी निर्दिष्ट किया गया है—दश हस्त से मापी गई भूमि को गोचर्म भूमि कहा जाता था। वशिष्ठ ने भी निर्वतन और गोचर्म भूमि के इस माप को स्वीकार किया है। वृद्ध हरीत शातालप ने एक निर्वतन को लगभग 4द एकड़ माना, जबकि भास्कराचार्य के अनुसार एक निवर्तन लगभग दो एकड़ भूमि के बराबर था, जिसे हेमाद्रि ने भी समर्थित किया।

पाणिनि ने खेतों को धान्य के अनुसार नामांकित किया है, जैसे बैहेय, शालेय, यव, यवक्य, सष्ठिक, तिल्य, तैलीन आदि, जो उस क्षेत्र की फसल और उपजाऊ शक्ति के आधार पर क्षेत्र नामकरण को दर्शाते हैं।

सारतः प्राचीन भारतीय ग्रंथों में कृषि को अत्यंत महत्व दिया गया। भूमि को उर्वर, अनुर्वर, उषर, गोचर आदि प्रकारों में विभाजित किया गया और उसका उपयोग, माप और स्वामित्व स्पष्ट था। मृत्तिका (मिट्टी) का प्रकार, गुण और स्वाद भूमि की उपजाऊ शक्ति तय करते थे। भूमि की परीक्षा हल कर्षण, गड्ढा परीक्षण, दीप प्रज्वलन आदि से होती थी। भूमि संस्कार और गुणाधान उपज बढ़ाने के लिए किए जाते थे। क्षेत्र (खेत) का नाम फसल के अनुसार रखा जाता था और खाद (गोबर, हड्डी, मछली) का प्रयोग आवश्यक था। संक्षेप में, प्राचीन कृषि पद्धति व्यवस्थित, वैज्ञानिक और समाजोपयोगी थी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *डॉ. के. सूर्यानारायणन, प्राचीन भारत में कृषि', शोधशौर्यम इंटरनेशनल साइंटिफिक रिफर्ड रिसर्च जर्नल, खंड-1, अंक-4, शोध संस्थान, नागपुर, 30 नवम्बर 2018*
2. *भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, प्राचीन भारत में कृषि, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली, 1964*
3. *मोहिंदर सिंह रंधावा, भारत में कृषि का इतिहास: प्रारंभ से 12वीं सदी तक, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली, 1980*
4. *देवेंद्र कुमार गुप्ता, वैदिक कृषि विज्ञान, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 2012*
5. *प्रो. ओमप्रकाश प्रसाद एवं प्रशान्त गौरव, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006*
6. *प्रो. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, 1960*
7. *डॉ. बी. एन. तिवारी, भारतीय कृषि का इतिहास, 1990*
8. *डॉ. जी. पी. मजूमदार एवं एस. सी. बैनर्जी, भारतीय कृषि शास्त्र, 1938*
9. *डॉ. अजय त्यागी, वेदों में ~~कृषि और भूमि का विज्ञान, 2019~~*
10. *कपीलेंद्र कुमार जैन (टीका सहित), कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1960*
11. *आचार्य शार्ड्गधर, शार्ड्गधर पद्धति (उपवन विनोद), 1283-1301 ई.*
12. *प्रो. जी. पी. मजूमदार, पराशर कृषि ग्रंथ, 1938*
13. *वासवभूपाल शिवतत्त्व रत्नाकर, 1694-1794*
14. *आचार्य चरक, चरक संहिता, प्रारम्भिक काल, पुनः प्रकाशन 1950 के बाद*
15. *आचार्य सुश्रुत, सुश्रुत संहिता, प्राचीन काल, आधुनिक संस्करण*